भिक्खु जी द्वारा की हुई—

हंसमयूर की आलोचना

का

उत्तर

वृन्दावनलाल वर्मा

भिक्खु जी की आलोचना का उत्तर

श्री चरित्र स्मारक ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक ४५, मेरे लिखे 'हंस-मयूर' नाटक की आलोचना है। इस आलोचना के लेखक श्री जयभिक्खु हैं। आलोचना ३२ पृष्ठों में है। दाम कुछ नहीं। अहमदाबाद से प्रकाशित हुई है।

आलोचना के मुख पृष्ठ पर लिखा है—'ऐतिहासिक विकृति और साम्प्रदायक द्वेष से भरा हुआ, महान कालकाचार्य और साध्वी सरस्वती के उज्ज्वल चरित्र पर लांछन लगाने वाला श्री वर्मा जी का नाटक 'हंस-मयूर'।'

इस पूर्वाग्रह का निर्वाह आलोचना में आरम्भ से अन्त तक किया गया है।

श्री जयभिक्खु ने आलोचना में जिस भाषा का प्रयोग किया है उसके कुछ नमूने:—

'धर्म और संस्कृति पर अपने हृदय में भरा हुआ हलाहल विष इस ग्रन्थ के पत्ते पत्ते पर उँडेल दिया है।'

'जिस मनगढंत द्वेष भरी तलवार से जैन और बौद्ध धर्म की, जैन संस्कृति की और जैनों के सन्मान्य वीरों की गौरवगरिमा की हत्या करने का उन्होंने प्रयास किया है, वही तलवार उनके अपने इष्टजनों और इष्टदेव के काम में लाई जा सकती है'

हंसमयूर नाटक का आधार इतिहास के उस समय की घटनायें हैं जब शकों ने बाहर से आकर मालव-जनपद को

कई वर्ष रोंदा, और, फिर वे पराजित किये गये, निकाल दिये गये और पुनः मालव गणतन्त्र की स्थापना हुई। बाहर से शक मालव जनपद पर आक्रमण करने कैसे आये, श्री जयभिक्खु स्वयं अपनी इस 'आलोचना' में लिखते हैं। उन्होंने कथा का उद्धरण प्रभावक चरित से किया है जो ईस्वी तेरहवीं शताब्दि में रचा गया था, मूल घटना के लगभग चौदह सौ वर्ष पीछे। भिक्खु जी प्रभावक चरित से उद्धृत करके लिखते हैं:—

"धारा नाम का नगर था। वीरसिंह नामक राजा था। उनके कालक नाम का पुत्र और सरस्वती नामक पुत्री। क्षत्रिय की कलाओं में प्रवीण राजकुमार ने गुणाकार सूरि के पास अपनी बहिन के साथ दीक्षा ली। थोड़े ही समय में सर्व शास्त्र पारंगत हो जाने से उन्हें आचार्य के पद पर स्थापित किये गये। एक दिन विचरते हुये वे उज्जैन आये। उस नगर (उज्जैन) में महाबलवान गर्दभिल्ल राजा था। वह किसी समय नगर के बाहर अपने दलबल सहित हाथी पर सवार होकर घूमने गया। इतने में कर्म संयोग से जैसे कउए को दही का पात्र मिले, उस तरह वहाँ कालक सूरि की बहन को उसने जाते हुये देखा। अतः मोहित होकर उसने प्रचंड पुरुषों (गुंडों) द्वारा उसका अपहरण किया। आचार्यकालक ने दुष्ट गर्दभिल्ल के हाथ से छुटाने के लिये नाना प्रयत्न किये, परन्तु वे सफल न हो सके। तब "इस प्रकार आचार्य के समझाने पर भी···उस म्लेच्छ जैसे नृपाधम ने सूरि का वचन नहीं माना। श्री संघ, मंत्री और नागरिकों ने बहुत कुछ समझाया।······पर राजा ने सब की बात को अनसुनी करदी, अतः अपने पूर्व क्षात्र तेज को प्रकट करते हुये कालकाचार्य ने कायरों को कँपा देने वाली प्रतिज्ञा की कि 'अन्याय रूप कीचड़ में खेलने वाले भुंड जैसे दुष्ट राजा का पुत्र, पशु बंधुओं सहित मैं उच्छेदन न करूं तो मुझे ब्रह्म हत्या, बाल हत्या, धर्म हत्या और देवखंडन का पाप लगे।"

भिक्खु जी आगे अपनी आलोचना में कहते हैं:—

"कुछ दिनों बाद वे (कालकाचार्य) अकेले ही वहाँ से चले गये। वे पश्चिम दिशा की ओर जाते हुये सिन्धु तीर तक गये। यहाँ 'शक' नाम से पहचाने वाले छियानवे राजा थे। संक्षेप में, शकों की मदद से, तथा अपनी विद्या और मन्त्र शक्ति से राजा गर्दभिल्ल को हराया……"

"कुछ समय बाद शक राजाओं का उच्छेद करके (यह समय चार वर्ष का गिना जाता है) श्री विक्रमादित्य राजा सार्वभौम बना।" (आलोचना के पृष्ठ १२, १३, १४ और १५)

"श्री कालकाचार्य शक विजय के बाद भी वहाँ रहे हैं और शक पराजय तथा पुनः मालवगण तन्त्र की स्थापना के साक्षी बने रहे, ऐसा इतिहास कहता है।……अलबत्ता निवृत्ति मार्गी साधु के तौर पर इस राजनीतिक परिवर्तन के बाद अपने साधु आचारों की क्षति के लिये उन्होंने प्रायश्चित किया हो, वह दूसरी बात है।' (पृष्ठ २५)

भिक्खु जी ने कालकाचार्य द्वारा लाये गये शकों के मालव जनपद—विजय को 'अमर नेताजी' (सुभाष बाबू) के प्रयत्न का सादृश्य दिया है। भिक्खु जी कहते हैं:—

"…वे (सुभाष बाबू) छिपे हुये भेष में भारत से अदृश्य होकर परदेश पहुँचे—जर्मनी और जापान गये। और उन लोगों की (जर्मनों और जापानियों की) मदद लेकर देश के उद्धार के लिये एक स्वदेश—प्रेमी वीर को शोभा देने लायक आज़ादी का जंग चलाया। सुभाष बाबू के इस वीर कार्य की प्रशस्ति करने वाले ही जब आर्य कालक के बारे में भ्रम-पूर्ण बातें लिखने को तैयार होते हैं, तब बड़ा आश्चर्य होता है और दुख भी।" (पृष्ठ ५),

भिक्खु जी ने एक सादृश्य और प्रस्तुत किया है। वह है लङ्का के विभीषण का !

"नाटक के ग्रन्थ के लिये मूल कथानक तुलसीकृत रामायण को पसन्द करें। '……अयोध्या के राजकुमार सब तरफ घूम फिरकर वानर, ऋक्ष आदि योद्धाओं की मदद से उस पर चढ़ाई करते हैं, हराते हैं और मारते हैं; सीता को पुनः प्राप्त करके शत्रु के भाई विभीषण को राज्य सिंहासन सौंपते हैं, जो विभीषण अपने पापी भाई के अधर्म से त्रस्त होकर राम की शरण लेता है और अपने अधर्मी भाई को मरवाने में निमित्त बनता है। (पृष्ठ १०)

"उस समय के लोग धर्म प्राण थे, देश प्राण नहीं। परम वैष्णव भक्त के नाम से विख्यात विभीषण आर्य प्रजा में रामायण काल से पूजा जाता है! उसने बन्धुद्रोह, कुलद्रोह और देशद्रोह तीनों किये थे, फिर भी 'महात्मा' कहा गया है। वह सब अधर्म को मिटा देने के लिये था।" (पृष्ठ २४)

आलोचना के पृष्ठ २५ पर भिक्खु जी कहते हैं:—

'कुछ जैन कथाओं में कहा गया है कि शकों को लाने वाले आर्य कालक ने ही कुछ समय बाद शकों को उज्जैन की गद्दी पर से उतारा और अपने सांसारिक भानजे को गद्दी नशीन किया।"

भिक्खु जी इस 'विवादग्रस्त विक्रमादित्य' की चर्चा में नहीं पड़ना चाहते। कहते हैं, 'न तो इसका यह स्थान है, और वैसा करने की हमारी इच्छा भी नहीं है।' (पृष्ठ २५)

नाटक के आरम्भ में कालकाचार्य उनकी बहिन और वकुल (नाटक के तीन पात्रों) को पीले वस्त्र और हाथ में कमण्डल लिये दिखलाया गया है। भिक्खु जी ने आक्षेप किया है कि श्वेताम्बर साधुओं ने पीला वस्त्र तो बहुत वर्षों के बाद कुछ खास कारणों से ही रखना शुरू किया और जैन साधु लकड़ी के पात्र रखते हैं, धातु का हर्गिज़ नहीं। (पृष्ठ १७)

आपका एक आक्षेप और है कि शकों को भारत में कालकाचार्य सबसे पहले नहीं लाये। (पृष्ठ २०)

मैं इस आलोचना का कोई भी उत्तर न देता। परन्तु 'हंस-मयूर' नाटक उत्तरप्रदेशीय इन्टर परीक्षा की पाठ्य-पुस्तक है, यह आलोचना काफ़ी संख्या में वितरित की गई है। संभव है विद्यार्थी और अन्य पाठक भ्रम में पड़ जावें। इसलिये लिखना पड़ा।

मैं भिक्खु जी और अन्य सज्जनों को विश्वास दिलाता हूं कि किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का अपमान करने की अपने जीवन में मैंने कभी बात नहीं सोची। यदि मेरे किसी लेख से किसी को अनचीते दुख पहुँचे तो मुझको बहुत परिताप होगा। जैन और बौद्ध धर्म विवेक मूलक हैं। वे किसी भी अन्ध परम्परा के पोषक नहीं हो सकते। उसी विवेक की प्रार्थना भिक्खु जी और अन्य सज्जनों से है।

मेरे इष्टजन और इष्टदेव कौन हैं? मेरा देश और विश्व का मानव। यदि भिक्खु जी अपनी तलवार चलाना चाहते हों, जैसा कि उन्होंने अपनी आलोचना में सङ्केत किया है, तो, मैं कहूंगा—'कर कुठार आगे यह सीसा।'

न तो मेरे हृदय में हलाहल है और न मैंने 'हंस मयूर' नाटक के पत्ते-पत्ते पर उसे उँडेला है। मैंने तो कालकाचार्य और सरस्वती को मानव के रूप में प्रस्तुत किया है। वकुल पात्र का सृजन कालकाचार्य की सम्मान-रक्षा के ही निमित्त किया गया है। जान पड़ता है कि आलोचक जी ने 'हंसमयूर' नाटक को मुश्किल से एक बार, वह भी सरसरी तौर पर, पढ़ा है। उनको ठंडक और विवेक के साथ दो तीन बार तो पढ़ना ही चाहिये था, तब उस पर लिखने के लिये क़लम उठाते।

आरम्भ में ही उन तीन पात्रों की वेशभूषा और कमण्डल के सम्बन्ध में थोड़ा सा कह दूँ। कमण्डल का अर्थ धातु का कमण्डल भिक्खु जी ने कैसे लगा लिया ? कमण्डल काठ और मिट्टी का भी होता है। मैंने कहीं भी नाटक में उसको धातु का नहीं बतलाया है। पीले वस्त्र आप स्वयं मानते हैं कि पीछे पहिने जाने लगे थे। कब ? यह भिक्खु जी नहीं बतलाते। भिक्खु जी कहते हैं कि 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' बौद्धों का वाक्य है, जैन साधु उसका प्रयोग नहीं करते। यदि वे करें तो क्या संस्कृति की व्यापकता को धक्का लगेगा ?

भिक्खु जी स्वयं मानते हैं कि क्रोधवश कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल के पुत्र, पशु, बन्धुवान्धवों इत्यादि के ध्वन्स करने का प्रण किया था। गर्दभिल्ल अपराधी था, परन्तु उसके पुत्र (उस समय उसके कोई पुत्र था ही नहीं) और पशुओं ने क्या अपराध किया था ? परन्तु क्रोध तो क्रोध ही है। वैसे दुष्ट बर्ताव पर आकर ही रहता है। मानव स्वभाव है। परन्तु उस समय उस मनुष्य को महात्मा नहीं कहा जा सकता। फिर भी कालकाचार्य शकों को भारत की छाती पर नहीं लाना चाहते थे; बकुल ने उनको ऐसा करने के लिये उत्तेजित किया। मैंने कालकाचार्य की सम्मान-रक्षा के लिये इस स्वाभाविक और इतिहास सम्मत परस्थिति को ग्रहण किया है।

मैंने यह कहीं नहीं कहा है कि शकों को भारत में कालका-चार्य सबसे पहले ले आये। परन्तु वे शकों को एक बड़ी संख्या में ले आये, इसमें न तो भिक्खु जी को सन्देह हो सकता है और न मुझको है। उनके इस कार्य को देशद्रोह कहा जावे तो ग़लत नहीं होगा। डॉक्टर अल्तेकर सरीखे इतिहासज्ञ विद्वान ने स्पष्ट 'देशद्रोही' कहा है। (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २०००

वैक्रम, पृष्ठ ८५) आपने विभीषण के कार्य को बन्धुद्रोह, कुलद्रोह और देशद्रोह' की संज्ञा देते हुये भी विभीषण को महात्मा बतलाया है। बात कुछ नई सी जान पड़ती है। भारत के हिन्दी भाषी जनपदों में एक कहावत प्रचलित है—'घर का भेदी लंका ढावे।' विभीषण को महात्मा कहते हुये यहां किसी को नहीं सुना। यहां तो विभीषण बड़ी भारी गाली है। किसी से कहा नहीं कि दङ्गाफ़साद की नौबत आई। राम का भक्त होते हुये भी सनातनी हिन्दुओं में विभीषण को आदर नहीं मिला। विभीषण की उपमा देकर भिक्खु जी कालकाचार्य को उस पद से बहुत नीचे गिरा देते हैं जो उन्हें उनके उत्तर जीवन के कार्यों के कारण मिलना चाहिये और दिया गया है।

सुभाष बाबू से कालकाचार्य के प्रयत्न की तुलना करना उपहासास्पद है। भिक्खु जी का विश्वास है कि गर्दभिल्ल के अनाचार और स्वेच्छाचार से प्रजा व्याकुल हो उठी थी; उसको मुक्त करने के लिये कालकाचार्य शकों को ले आये!

यह भिक्खु जी का निरा भ्रम है। इस घटना के लगभग ग्यारह सौ वर्ष उपरान्त विख्यात अरब यात्री अलबेरूनी भारत में आया था। उसने उज्जैन और मालवे में शकों के आक्रमण स्वरूप जो कुछ सुना वह रोमाञ्चकारी है। उन शकों की क्रूरता को—भिक्खु जी भी कहते हैं कि ये शक युद्ध में 'अलबत्ता बहुत जनून वाले थे'—मालव जनपद कभी नहीं भूला। अलबेरूनी के अरबीयात्रा ग्रन्थ 'किताबुल हिन्द' के अंग्रेजी अनुवाद Alberuni's India (Sachau) के द्वितीय खण्ड पृष्ठ ६ पर उल्लेख है—'इन शकों ने आर्यावर्त को निवास स्थान बनाकर सिन्धु नदी से लेकर समुद्र पर्यन्त देशपर अत्याचार ढाये। शकों ने हिन्दुओं को विवश करके आदेश दिया कि अपने को सिवाय

शक के और कुछ मत कहो।"..." हिन्दुओं ने शकों से तब तक बड़े बड़े कष्ट पाये जब तक कि पूर्व से विक्रमादित्य नहीं आगया और उसने, मुल्तान और लोनी नदी के बीच करूर के मैदान में मारकर हरा नहीं दिया।' और ये अत्याचार शकों ने उन चार वर्षों में कर डाले जिनमें, जैसा कि भिक्खु जी मानते हैं, कालकाचार्य शकों के साथ मालवा में रहे।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने ग्रन्थ History of India from 150 A. D. to 350 A. D. के पृष्ठ ४५ पर प्रश्न किया है कि हिन्दुओं के मन्दिर किसने तोड़े, किसने ढाये? उन्होंने उस पृष्ठ पर उत्तर दिया है कि कुशाणों ने। कुशाण बौद्ध हो गये थे, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मैं भी एक प्रश्न करता हूं, भेलसे से उत्तर लगभल २० मील जो ग्यारसपूर नामका प्राचीन स्थान है उसके मन्दिर किसने तोड़े और उन टूटे हुये मन्दिरों की सामग्री पर किस साम्प्रदाय के मन्दिर हैं? मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दूँगा। भिक्खु जी इतिहास और ग्वालियर गज़ीटियर को टटोलें, उस स्थान को खुली आंखों देखें और स्वयं उत्तर देलें। साम्प्रदायक विद्वेष वे फैला रहे हैं, मैंने नहीं फैलाया है।

वास्तव में बात यह है कि यह तोड़ा फोड़ी आर्य जाति के जैन, बौद्ध या हिन्दुओं की की हुई नहीं है। यह सब शक तथा हूणों के कुकृत्यों का परिणाम है जो भारत में आकर शैव, बौद्ध या जैन मत में दाखिल हो गये और जो अपनी वंशानुगत बर्बरता की मोटी काया को किसी भी भारतीय धर्म की झीनी चादर से नहीं ढक सके। उनकी वकालत करना भिक्खु जी सरीखे त्यागी तपस्वियों को शोभा नहीं देता। परन्तु जब विवेक से काम लें तब तो।

भिक्खु जी का कथन कि 'उस समय के लोग धर्म प्राण थे, देशप्राण नहीं, भ्रमपूर्ण है। 'हंसमयूर' के आरम्भ में जो नान्दी पाठ दिया गया है वह विष्णु पुराण से उद्धृत किया गया है—

गायन्तिदेवाः किल गीत कानि,
धन्यास्तुते भारत भूमि भागे,
स्वर्गापवर्गास्पद हेतु भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।

इस श्लोक में किया गया देश और भूमि का ज़िकर स्पष्ट है। 'धन्य हैं वे लोग जो भारत भूमि में उत्पन्न हुये हैं। वह भूमि स्वर्ग से भी विशिष्ट है, क्योंकि वहां स्वर्ग और मोक्ष दोनों की साधना की जा सकती है। जो देवत्व भोग चुकते हैं वे मोक्ष के लिये पुनः भारतवर्ष में जन्म लेते हैं जहां के आदर्श अपवर्ग की प्राप्ति में कारण भूत हैं।'

यदि भिक्खु जी को इस संदर्भ में कुछ और खोजने की आवश्यकता प्रतीत हो तो श्री काशीप्रसाद जायसवाल कृत Hindu Polity का अध्ययन करें; परन्तु वे दुर्वासा बनकर ऐसा न करें, जैन विद्वानों द्वारा प्रस्थापित विवेक परम्परा से अध्ययन करें। उस समय के लोग देश प्राण भी थे, केवल धर्म प्राण नहीं।

भिक्खु जी कहते हैं कि विक्रमादित्य कालकाचार्य का 'सांसारिक' भानजा (सरस्वती का पुत्र) था। मैं उन लोगों में से हूं जो यह नहीं मानते कि विक्रमादित्य गर्दभिल्ल का पुत्र था। विक्रमादित्य ने ईसा के पूर्व कालकाचार्य द्वारा लाये गये शक आक्रमणकारियों का विध्वंस नहीं किया, बल्कि मालव गणतन्त्र के मालवजनों ने एक त्यागी नेता के नेतृत्व में किया था जिसको आज कोई कोई कृत भी कहते हैं। मेवाड़ और मन्दसौर में पाये गये शिलालेखों से और 'मालवानां जयः' अङ्कित सिक्कों से यह मत

प्रमाणित होता है कि क्रूर शकों का विनाश मालव जनपद और उसके सहयोगी जनपदों ने किया था न कि किसी राजा या किसी राजा के लड़के ने।

मालव जनपद का शासन गणतांत्रिक था जिसमें चुनाव, मतदान इत्यादि की प्रथायें प्रचलित थीं। गर्दभिल्ल मालव जनपद का अनियंत्रित राजा नहीं हो सकता था जैसा कि तेरहवीं शताब्दि में, जबकि प्रभावक चरित्र लिखा गया, राजा हो गया था। कालकाचार्य की कथा जैन ग्रन्थों में सातवीं शताब्दि से पहिचाने जाने योग्य रूप में आती है। परन्तु समुद्रगुप्त इसके पहले हो चुका था जिसने गणतन्त्रों को नष्ट कर दिया था और जिसके बाद से भारत में राजा की अनियन्त्रित सत्ता को पूरा समूचा रूप मिला। उस काल के पीछे के ग्रन्थों में जो भी कथायें आवेंगी अपने समय के रंग से रंजित होने से नहीं बच सकतीं इसीलिये साध्वी सरस्वती पर गर्दभिल्ल द्वारा किये गये बलात्कार को वह रूप मिला जो उसको घटना के सैकड़ों वर्ष बाद उस परस्थिति में मिलना अनिवार्य था। सरस्वती पर बलात्कार अवश्य हुआ। परन्तु क्या बलात्कार का एक ही पाशविक रूप है? छलकपट, आत्महत्या की धमकी, सगेसम्बन्धियों को सङ्कट में डालने की विभीषिका, छद्म इत्यादि कई रूप बलात्कार के हैं। वह सब बलात्कार है जिसमें नारी की स्वीकृति उसकी निज की इच्छा के साथ न हो, फ़िर वह स्वीकृति चाहे जिस योजना या उपाय द्वारा प्राप्त की गई हो। हंसमयूर नाटक में बलात्कार के एक ऐसे ही रूप को लिया गया है। भिक्खु जी कहते हैं कि उसके पुत्र (विक्रमादित्य) था। यदि इनकी बात मान लीं जावे तो शकों के चार वर्ष राज्य करने के उपरान्त इस विक्रमादित्य ने (भिक्खु जी इस विषय को विवादग्रस्त समझते हैं, और, मैं तो बिलकुल ही ग़लत मानता हूं) शकों को पराजित कर दिया। अलबेरूनी
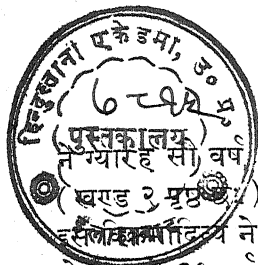
ने ग्यारह सौ वर्ष बाद मालवा में इसी परम्परा को सुना था (खण्ड २ पृष्ठ [illegible]), परन्तु उसको उसी समय शङ्का थी। यदि इसलिये विक्रमादित्य ने ४ वर्ष बाद हराया (ईसा से ७५ वर्ष पहले) तो ईसा से ६१ वर्ष पहले शकों को आचार्य कालक यहां लाये। उस समय इस विक्रमादित्य की आयु १८, २० वर्ष से कम तो किसी तरह भी नहीं हो सकती। कालकाचार्य ने अपनी बहिन सरस्वती को गर्दभिल्ल के पन्जे से ईसा से ६१ वर्ष पहले छुटाया होगा। उस समय विक्रमादित्य (यदि कोई था तो) कम से कम १४, १६ वर्ष का तो होगा ही। सरस्वती गर्दभिल्ल के पास, इस तरह कम से कम १४, १६ वर्ष रह चुकी होगी।

यह सम्बन्ध बलात्कार के किसी रूप से आरम्भ होकर उसी रूप में १४, १६ वर्ष नहीं रह सका होगा। उस सम्बन्ध के बदलते हुये रूपों की केवल कल्पना की जा सकती है जो मनोवैज्ञानिक आधार पर नाटक में की गई है।

गर्दभिल्ल का सरस्वती के साथ सम्बन्ध, हिन्दू शास्त्रों (Law) के हिसाब से, पैशाचिक था। पैशाचिक सम्बन्ध भी एक प्रकार का विवाह माना गया है, है वह निकृष्ट। इतने दिनों आर्यकन्या जो पतिव्रत धर्म की बातें छुटपन से सुनती चली आई होगी किस प्रकार का बर्ताव करती? उस अकेलेपन में, जहाँ उसका कोई न था, धारा नगरी जो उसके पिता के राज्य में थी और उज्जैन से दूर भी नहीं, उसकी कोई सहायता न कर सकी; वह जीवन को किस प्रकार चलाती? वह छोटी आयु में अपने भाई के साथ घर से चल पड़ी थी, संसार का अनुभव कुछ था नहीं; वर्षों की साधना चाहने वाली तपस्या उसकी आयु के क्रम में कितनी आ पाई होगी? और फिर कुमारी थी। इस प्रश्न को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, विवेक के साथ देखने की आवश्यकता है। उस समय

का राजनैतिक वातावरण एक तन्त्री, अनियन्त्रित सत्ता वाले, राजा का नहीं था—कम से कम मालव जनपद में नहीं था। तेरहवीं शताब्दि में जो रूप गर्दभिल्ल के अत्याचार को दिया गया, उसका वह रूप उस प्रकार के राजनैतिक, अतः सामाजिक, वातावरण में हो ही नहीं सकता था। गर्दभिल्ल के बलात्कार ने छलकपट की बदमाशी का रूप धारण किया होगा; तभी उसने नगर सभा, और जनपद के प्रमुखों तथा पञ्चों को सफलता पूर्वक धोका दे पाया होगा। वह पृथ्वीराज चौहान का, बारहवीं शताब्दि का, युग नहीं था। इसी का निरूपण 'हंसमयूर' नाटक में है। सिवाय इसके और कोई रूप उसका कैसे हो सकता था? और सिवाय इसके कि सरस्वती, उस परस्थिति में आत्मसमर्पण करती, आर्य नारी की तरह उस प्रकार का गर्दभिल्ल को सम्बोधन करती और क्या होता? केवल एक मार्ग और था—आत्मवध का। वह उसने नहीं किया। इसीलिये यह आदर की पात्री है। वह मानव है; और, किस परिस्थिति में पड़ा हुआ मानव? आरम्भ से लेकर उस समय तक जब तक कि वह सदा के लिये कालकाचार्य के साथ धर्म कार्य के लिये नहीं चली गई। 'हंसमयूर' में मैंने उसको 'सुनन्दा' नाम इसीलिये दिया है।

यह क्षेत्र इतिहास का नहीं है, कल्पना का क्षेत्र है। उस छोटी आयु की सरस्वती को जब गर्दभिल्ल ने पकड़ा वह सरस्वती नहीं हो सकती जो कालकाचार्य के साथ उनकी समाधि को घड़ी तक उनके साथ रही होगी। उसका अन्तिम रूप विशाल, विराट तपस्या का आध्यात्मिक रूप होगा जिसके कारण वह हमारे पौराणिक इतिहास में साध्वी कहलाती है, प्रारम्भिक रूप उसका एक अल्हड़ भावना प्रेरित विरागिनी का रहा होगा जो संसार की मझधार में अकेली छूट गई थी, या डालदी गई थी।

यही कारण है कि नाटक में उसको पहले सुनन्दा कहा गया है और पीछे सरस्वती। नाटक चाहे ऐतिहासिक हो चाहे निरा काल्पनिक, है तो वह मीमांसाकारों की परिभाषा के अनुसार काव्य ही,—मेरा यह दम्भ नहीं है कि 'हंसमयूर' को काव्य कहा जावे, इसका निर्णय तो रसज्ञ पाठक ही कर सकते हैं। पर नाटक के नाते यह कहना पड़ेगा कि यदि यह केवल इतिहास होता तो इसमें तथ्यों की गवेषणा के अस्थिपन्जर के सिवाय और क्या बनता? नाटक तो उसको कह नहीं सकते।

मैंने इतिहास के ढांचे में रक्तमान्स बिठलाया है यह मैं अवश्य कहूंगा। भले ही भिक्खु जी और उन सरीखे सज्जनों का पूर्वाग्रह न माने।

बर्बरों को कैसा भी सुन्दर, कोमल और वैज्ञानिक धर्म दे दीजिये वे अपने रक्तगत लक्षणों के कारण उसका यथावत पालन कर ही नहीं सकते। बौद्ध, जैन, मुस्लिम, ईसाई, शैव, वैष्णव इत्यादि सब धर्मों का यही इतिहास है। इसमें धर्म का कोई अपराध नहीं। शक जैन और बौद्ध ही नहीं हुये, प्रत्युत शैव भी हुये। परन्तु इन धर्मों का उन पर थोड़ा सा ही प्रभाव पड़ा। शक लोग केवल युद्ध में ही 'बड़े जनूनी' नहीं थे बल्कि छोटे से छोटा कारण पाते ही 'पूरे जानवर' बन जाते थे। उन्होंने जो विध्वन्स कार्य किये उनका कुछ विवरण हंसमयूर के परिचय में दिया है।

भिक्खु जी और उन सरीखे अन्य सज्जनों से प्रार्थना है कि उस विवेक, उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientificattitude of mind) से काम लें जो भारतीय संस्कृति का एक अङ्ग है और

जिसके चलाने में अनगिनत बौद्ध और जैन विद्वानों का भी काफ़ी हाथ रहा है।

भिक्खु जी ने 'हंसमयूर' की भूमिका के लेखक श्री डॉक्टर अमरनाथ झा को भी कुछ खोटीं सुनाई हैं। जब दूसरों पर चोट करने के लिये दुर्वासा सदृश ऋषि उतर पड़ते हैं, तब वे जो कुछ भी न कह डालें, थोड़ा है। मानव प्रकृति है। क्रोध आया नहीं कि विवेक गया। परन्तु दुर्वासा, या विश्वामित्र, ऋषियों में अपवाद हैं, इसीलिये भिक्खु जी से विवेक की प्रार्थना की है।

और क्या उस विवेक को वह रूप मिले जो भिक्खु जी ने अपनी आलोचना में दिया है?

भिक्खु जी का एक प्रचण्ड आक्षेप है कि ऐसी पुस्तकों से क्या लाभ है? वे कहते हैं कि ऐसी पुस्तक घोर साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाती है। विज्ञान और विवेक अन्ध परम्परा और भ्रममूलक विश्वासों को आरम्भ में धक्का देता ही है। स्वतन्त्र भारत में भी यदि विवेक और विज्ञान का दृष्टिकोण व्यापक न बनाया जा सका तो फिर कब बनेगा?

यदि 'हंसमयूर' में कही गई घटनायें विवेक और विज्ञान-मनोविज्ञान-के विरुद्ध हों, इतिहास के प्रतिकूल हों (प्रभावक चरित को इतिहास न मानने के लिये विवश हूं) तो भिक्खु जी को ही अपना पञ्च बनाता हूँ, जो प्रायश्चित कहें करने को तैयार रहूंगा।

और यदि उनकी आलोचना विवेक, मनोविज्ञान और इतिहास के प्रतिकूल हो तो डॉक्टर झा से तो वे खेद प्रकट करें

ही, आगे विवेक से काम लें। मैं उनसे कुछ नहीं चाहता। ठंडक के साथ—क्रोध के आवेश में नहीं—केवल अपनी आत्मा से बात करके तै करलें कि अपराधी मैं हूँ या वे।

अन्त में एक बात और—

प्रातःकालीन ऊषा के पीतपटों पर यदि थोड़ा सा, क्षीण, कुहासा छा जावे तो क्या उसको मशीनगनों से छिन्नभिन्न करना चाहिये ?

वृन्दावनलाल वर्मा

प्रकाशक—
सत्यदेव वर्मा बी. ए., एल-एल. बी.
मयूर-प्रकाशन, झाँसी ।

मुद्रकः—
द्वारकाप्रसाद मिश्र 'द्वारिकेश'
स्वाधीन प्रेस, झांसी ।